मानसिक
संतुलन
श्रीराम शर्मा आचार्य

मानसिक सन्तुलन

गायत्री का नौवां अक्षर 'भ' हमको प्रत्येक स्थिति में मानसिक भावों को संतुलित रखने की शिक्षा देता है –

भवोद्विग्नमना चैव हृदुद्वेगं परित्यज ।
कुरु सर्वास्ववस्थासु शान्तं संतुलितं मनः ॥

अर्थात्– "मानसिक उत्तेजनाओं को छोड़ दो । सभी अवस्थाओं में मन को शान्त और संतुलित रखो ।"

शरीर में उष्णता की मात्रा अधिक बढ़ जाना 'ज्वर' कहलाता है और वह ज्वर अनेक दुष्परिणामों को उत्पन्न करता है । वैसे ही मानसिक ज्वर होने से उद्वेग, आवेश, उत्तेजना, मदहोशी, आतुरता आदि लक्षण प्रकट होते हैं । आवेश की प्रबलता मनुष्य के ज्ञान, विचार, विवेक को नष्ट कर डालती है । उस समय वह न सोचने लायक बातें सोचता है और जो कार्य पहले कुत्सित जान पड़ते थे उन्ही को करने लगता है । ऐसी स्थिति मानव जीवन के लिये सर्वथा अवांछनीय है । विपत्ति पड़ने पर अथवा किसी प्रकार का लड़ाई झगड़ा हो जाने पर लोग चिन्ता, शोक, निराशा, भय, घबराहट, क्रोध आदि के वशीभूत होकर मानसिक शान्ति को खो बैठते हैं । इसी प्रकार कोई बड़ी सफलता मिल जाने पर, या सम्पत्ति प्राप्त होने पर मद, मत्सर, अति हर्ष, अति भोग आदि दोषों में फँस जाते हैं । इस तरह कोई भी उत्तेजना मनुष्य की आन्तरिक स्थिति को विक्षिप्तों की सी कर देती है । इसके फल से मनुष्य को तरह–तरह के अनिष्ट परिणाम भोगने पड़ते हैं ।

जिन लोगों की प्रवृत्ति ऐसी उत्तेजित होने वाली अथवा शीघ्र ही आवेश में आ जाने वाली होती है, वे प्रायः मानसिक निर्बलता के शिकार होते हैं । वे अपने मन को एकाग्र करके किसी एक काम में नहीं लगा सकते और इसलिए कोई बड़ी सफलता पाना भी उनके लिये असंभव हो जाता है । उनके अधिकांश विचार क्षणिक सिद्ध होते हैं । इस प्रकार मानसिक असन्तुलन मनुष्य की उन्नति में बाधा स्वरूप बनकर उसे पतन की ओर प्रेरित करने का कारण बन जाता है ।

असंतुलन असफलता का मूल कारण है

मानसिक असंतुलन की अशान्त दशा में कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है, न आध्यात्मिक प्रगति संभव होती है । कारण यह है कि उन्नति के लिये, ऊँचा उठने के लिये जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नहीं हो पाता । जिस प्रकार हाथ कांप रहा हो तो उस समय बन्दूक का निशाना नहीं साधा जा सकता, उसी प्रकार आवेश या उत्तेजना की दशा में मानसिक कम्पन की अधिकता रहती है । उस उद्विग्नता की दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए ।

मानसिक असंतुलन और उत्तेजना से अधीरता का भाव उत्पन्न होता है । अधीर होना, ह्रदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिन्ह है । बच्चे जब बाग लगाने का खेल खेलते हैं तो उनकी कार्य प्रणाली विचित्र होती है । अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद पानी लगाया, अभी दो चार मिनट के बाद ही बीज को उलट – पलट कर देखते हैं कि बीज में से अंकुर फूटा या नहीं । जब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर गाड़ देते हैं और दो चार मिनट बाद फिर देखते हैं । इस प्रकार कई बार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरा नहीं होती तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं । वृक्षों की टहनियां तोड़कर मिट्टी में गाढ़ देते हैं और उससे बाग की लालसा को बुझाने का प्रयत्न करते हैं । उन टहनियों के पत्ते उठा–उठा कर देखते हैं कि फल लगे या नहीं । यदि दस बीस मिनट में फल नहीं लगते तो कंकड़ों को डोरे से बांध कर टहनियों में लटका देते हैं । इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती । फलतः कुछ देर बाद उस बाग को बिगाड़ कर चले जते हैं । कितने ही जवान और वृद्ध पुरूष भी उसी प्रकार की बाल–क्रीड़ाऐं अपने क्षेत्र में किया करते हैं, किसी काम को बड़े उत्साह से आरम्भ करते हैं, इस 'उत्साह' की अति उतावली बन जाती है । कार्य आरम्भ हुए देर नहीं होती कि यह देखने लगते हैं कि सफलता में अभी कितनी देर है । जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती । जब उन्हें थोड़े ही समय में रंगीन कल्पनायें पूरी होती नहीं दीखती तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं । अनेकों कार्यो को आरम्भ करना और उन्हें बिगाड़ना

ऐसी ही बाल-क्रीड़ाऐं वे जीवन भर करते रहते हैं । छोटे बच्चे अपनी आकांछा और इच्छा पूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना नहीं कर पाते, इन बाल-क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरूषों की भी मनोभूमि ऐसी ही होती है । यदि हथेली पर सरसों न जमी तो खेल बिगाड़ते हुए उन्हें देर नहीं लगती ।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिए गुरू के पास जाता था तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी होती थी । गौऐं चरानी पड़ती थीं, लकड़ियां चुननी पड़ती थीं, उपनिषदों में इस प्रकार की अनेकों कथायें हैं । इन्द्र को भी लम्बी अवधि तक इसी प्रकार तपस्या पूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई । प्राचीन काल में विज्ञ पुरूष जानते थे कि धैर्यवान पुरूष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए धैर्यवान स्वभाव वाले छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे । क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था । चंचल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है । अक्षर ज्ञान होजाने या अमुक कक्षा का सर्टीफिकेट ले लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयंकर खतरा है । कर्म को परिपक्व होने में समय लगता है । रूई को कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिये कई कड़ी मंजिलें पार करनी होतीं हैं और कठोर व्यवधानों में होकर गुजरना पड़ता है, जो संक्रांति काल के मध्यवर्ती कार्य क्रम को धैर्य पूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रूई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिए । किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ठ प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है । इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है । कभी-कभी परिस्थिति वश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है । उसे पार करने के लिए समय और श्रम लगाना पड़ता है । कभी-कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रहकर अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करना होता है । आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरा सी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़ कर भाग निकलते हैं । यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास

बनता जाता है ।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है । यदि काम पूरा न हो पाया तो ? यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आगयी तो ? यदि फल उल्टा निकला तो ? इस प्रकार की दुविधा पूर्ण आशंकाऐं मनको डांवाडोल बनाये रहतीं हैं । पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा सा रहता है । जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती । इसलिए आधे मन से वह किया जाता है । आधा मन दूसरे काम की खोज में लगा रहता है । इस डांवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता । हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती । बल्कि उल्टी भूल होती जाती है, ठोकर पर ठोकर लगती जाती है । दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि लाभों को भी पूरी तरह नहीं विचारा जा सकता । अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं वरन् अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है । पहले काम को छोड़ कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नए काम की भी वही गति होती है जो पुराने की थी । कुछ समय बाद उसे भी छोड़कर नया ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्य क्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अन्त में मनुष्य को अपने असफल जीवन पर पश्चाताप करने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता ।

मानसिक असंतुलन से आध्यात्मिक पतन

मानसिक असंतुलन से केवल सांसारिक और भौतिक क्षेत्र में ही हानि नहीं उठानी पड़ती, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसका परिणाम अनिष्टकारी होता है । जो लोग मानसिक उत्तेजना के शीघ्र वशी भूत हो जाते हैं उनमें अभिमान और लोभ की मात्रा भी बढ़ जाती है, और ये दोंनो तत्व अन्य अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति करते हैं । अभिमान एक प्रकार का नशा है, जिसमें मदहोश होकर मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा और दूसरों को अपने से छोटा समझता है । वह इस बात को पसंद करता है कि दूसरे लोग उसकी खुशामद करें, उसे बड़ा समझें, उसकी बात मानें, जब इसमें कुछ कमी आती है तो वह अपना अपमान समझता है और क्रोध से सांप की तरह फुसकारने लगता है । वह नहीं चाहता कि

कोई मुझसे धन में, विद्या में, बल में, प्रतिष्ठा में बड़ा या बराबर का हो, इसलिए जिस किसी को वह थोड़ा सुखी सम्पन्न देखता है उसी से ईर्ष्या द्वेष करने लगता है। अहंकार की पूर्ति के लिए अपनी सम्पन्नता बढ़ाना चाहता है।सम्पन्नता सद्गुणों से, श्रम से, लगातार परिश्रम करने से मिलती है। पर अभिमान के नशे में चूर व्यक्ति इस सीधे साधे मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होता वह अनीति और बेईमानी पर उतर आता है।

अवमान का अर्थ है– आत्मा की गिरावट। अपने को दीन, तुच्छ, अयोग्य, असमर्थ समझने वाले लोग संसार में दीन हीन बनकर रहते हैं। उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। कोई साहसिक कार्य उनसे बन नहीं पड़ता। सम्पन्नता प्राप्त करने और अपने ऊपर होने वाले अन्याय को हटाने के लिए जिसे शौर्य की आवश्यकता है वह अवमान ग्रस्त मनुष्य में नहीं होता। फलस्वरूप वह न तो समृद्ध बन पाता है और न अन्याय के चंगुल से छूट पाता है। उसे गरीबी घेरे रहती है। और कोई न कोई सताने वाला आये दिन अपनी तीर कमान ताने रहता है। इन कठिनाईयों से बचने के लिए उसे निर्बलता पूरक अनीतियों का आश्रय लेना पड़ता है। चोरी, ठगी, कपट, छल, दंभ, असत्य, पाखण्ड, व्यभिचार, खुशामद जैसे दीनता सूचक अपराधों को करना पड़ता है। मोह ममता, भय, आशंका, चिन्ता, कातरता, शोक, पश्चाताप, निराशा कुढ़न, सरीखे मनो विकार उसे घेरे रहते हैं। आत्मज्ञान एवं आत्म सम्मान को प्राप्त करना और उनकी रक्षा करने के लिए मनुष्योचित मार्ग अपनाना यह जीवन का सतोगुणी स्वाभाविक क्रम है। यह श्रंखला जब विश्रंखलित हो जाती है, आत्मिक संतुलन बिगड़ जाता तो पाप करने का सिलसिला चल पड़ता है।

मानसिक संतुलन और समत्व की भावना

मानसिक संतुलन को हम गीता में बतलाई समत्व की भावना भी कह सकते हैं। सब सांसारिक पदार्थों में प्रवृत्ति की हम में जितनी शक्ति होती है उतनी ही जब उनसे निवृत्त होने की भी शक्ति होती है तो उस अवस्था को संतुलित और समत्व भावना की अवस्था कह सकते हैं।

इस समत्व को आचरण में उतारने के लिए केवल विरागी अथवा राग हीन होने से ही कार्य न चलेगा। संतुलित अवस्था तो तब होगी जब आप रागहीन होने के साथ–साथ द्वेष हीन भी होंगे। हमारे भारतीय

साधुओं ने भी वही भूल की । वे होने के लिए तो विरागी हो गये पर साथ-साथ अद्वेषी (अद्वेष्टा) न हुए । राग से बचने की धुन में उन्होंने द्वेष को अपना लिया । संसार के सुख दुःख से सम्बद्ध न होने की चाह में उन्होंने संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उसकी सेवाओं से अपना मुख मोड़ लिया ।

जब दो गुण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को परस्पर विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त करते हैं, तो उनके पारस्परिक संयोग से चित्त की जो अवस्था होती है उसे भी संतुलित अवस्था कहते हैं । दया मनुष्य को दूसरों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त कराती है पर निर्मोह या निर्ममत्व मनुष्य को दूसरों के सुख-दुख से सम्बन्धित होने से पीछे हटाता है । अतएव दया और निर्ममत्व दोनों के एक बराबर होने से चित्त संतुलित होता है । जहाँ दया मनुष्य को अनुरक्त करती है वहाँ निर्ममता विरक्त । दया में प्रवृत्तात्मक और निर्मोता में निवृत्तात्मक शक्ति है । उसी तरह संतोष और परिश्रमशीलता एक दूसरे को संतुलित करते हैं । परिश्रमशीलता में प्रवृतात्मक और संतोष में निवृतात्मक शक्ति है । उसी तरह सत्यता और मृदुरभाषिता, सरलता और दृढ़ता, विनय और निर्भीकता, नम्रता और तेज, सेवा और अनासक्ति, शुचिता और घृणाहीनता, स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व, तितीक्षा और आत्म रक्षा, निष्कामता और आलस्य हीनता, अपरिग्रह और द्रव्योपार्जन शक्ति परस्पर एक दूसरे को संतुलित करते हैं । इन युग्मों में से यदि केवल एक का ही विकास हो और दूसरे के विकास की ओर ध्यान न दिया जाय तो मनुष्य का व्यक्तित्व असंतुलित एवं एकांगी हो जावेगा । श्रद्धालु व्यक्ति में श्रद्धेय व्यक्ति के अनुगमन करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है, स्वतन्त्रता प्राप्त व्यक्ति पर अंकुश न होने से उसमें निरंकुशता और उच्छृ खलता बढ़ सकती है, दृढ़ प्रकृति व्यक्ति में हठ करने की प्रवृत्ति हो सकती है, प्रभुत्व शाली व्यक्ति में अभिमान बढ़ सकता है इत्यादि । अतएव जब तक इन व्यक्तियों में क्रमशः आत्म निर्भरता, उत्तरदायित्व, हठ-हीनता और निरभिमानता का विकास न होगा तब तक पूर्वोक्त गुण अपनी अपनी सीमा के भीतर न रहेंगे । अतएव उपरोक्त युग्मों में से प्रत्येक गुण एक दूसरे को मर्यादित करता है और एक दूसरे का

पूरक है ।

जब मनुष्य में दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी, अपमान सहन करने की क्षमता होती है, जब वह अहिंसा व्रत पालते हुए भी अपराधियों को अधिकाधिक उच्छ्रंखल, उद्धत, अभिमानी और निष्ठुर नहीं बनने देता, जब वह सेवा व्रती होते हुए भी सेव्यजनों को आलसी परमुखापेक्षी और अकर्मण्य नहीं होने देता, जब वह क्रोध में होते हुए भी अनुशासन और नियन्त्रण बनाये रखना जानता है, जब उसमें भक्ति और उत्साह होते हुए भी दास वृत्ति और उतावलापन नहीं होता, जब वह सफलता में विश्वास रखते हुए भी कार्य करने में लापरवाही नहीं करता, जब वह त्यागी होते हुए भी विपक्षी का लोभ नहीं बढ़ाता, जब वह मान सम्मान की परवाह न करते हुए भी लोक कल्याण करने वाले शुभ कार्यों के करने में पूर्ण उत्साही होता है, जब वह अपमान से दुखी न होते हुए भी अपमान जनक कार्य न करने का संयमी एवं आत्मनिग्राही होता है, जब वह शुभ कर्मों को करने के लिए बाध्य न होते हुए भी स्वेच्छा से उन्हें तत्परता पूर्वक अच्छी तरह करता है, जब वह किसी कार्य के प्रवृत्त होने के साथ-साथ उससे निवृत्त भी हो सकता है तब उसके चरित्र और गुणावलियों में संतुलन आता है ।

जब दो विचार धाराऐं मनुष्य से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य कराती हैं तब उनके समन्वय से जो स्थिति होती है उसे संतुलित विचार धारा कहते हैं । आत्म सुख की भावना बहुधा मनुष्य को स्वार्थमय कर्मो में प्रवृत्त कराती है और लोक सुख की भावना लोक कल्याण के कार्यों में । अतएव आत्म सुख और लोक सुख दो विभिन्न दृष्टिकोंण हुए । इनके समन्वय से जो स्थिति होती है वही संतुलित विचार पद्धति है । उसी प्रकार जिसकी विचारधारा में पूर्व और पश्चिम के आदर्शों का समन्वय, भौतिक वाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, आदर्श और यथार्थ का समन्वय हुआ है और जो मध्यम मार्ग को अपनाये हुए हैं उसी की विचार धारा संतुलित है ।

जब हम किसी एक ही कार्य के पीछे पड़ जाते हैं अथवा हम जब किसी कार्य में अति करने के कारण दूसरे करणीय कार्यों को भूल जाते हैं तब हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होती है । यदि हम एक दम धन

कमाने के पीछे पड़जायें अथवा यदि हम केवल पढ़ने में ही सारा समय बिताने लगें तो हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होगी, यदि कोई विद्यार्थी अपने हस्तलेखन की केवल गति ही बढ़ाने पर ध्यान दे और अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान न दे तो आप उसके प्रयत्न को क्या कहेंगे ? उसी प्रकार यदि किसी देश में ऐसा कोई आयोजन हो कि केवल शिक्षा की क्वालिटी या उसकी उत्कृष्टता ही एक मात्र लक्ष्य हो और इस बात का ध्यान न हो कि शिक्षा अधिक से अधिक संख्या के लोगों को उपलब्ध हो सके तो उस देश के शिक्षा शास्त्रियों की कार्य पद्धति असंतुलित ही कही जायेगी । यही बात मानव जीवन पर भी घटित होती है । हमें केवल एक ही दिशा में घुड़दौड़ नहीं मचानी चाहिए वरन् सब दिशाओं में विकास करते हुए मानसिक संतुलन को बनाये रखना चाहिए । तभी हम अगाध मानसिक शान्ति के दर्शन कर सकेंगे ।

'अति सर्वत्र वर्जयेत'

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों तथा नीति कारों ने जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी काम में 'अति' नहीं करनी चाहिए । यह नियम बुरी बातों पर ही नहीं अनेक अच्छी बातों पर भी लागू होता है । जैसे कहा गया है कि अति दान वृत्ति के कारण बलि को पाताल में बँधना पड़ा । सम्भव है कि कुछ विशिष्ट आत्माओं के लिए , जो किसी असाधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण होती हैं, यह नियम आवश्यक न माना जाय, पर सर्व साधारण के लिए सदैव मध्यम मार्ग-संतुलित जीवन का नियम ही उचित सिद्ध होता है ।

भगवान बुद्ध ने 'मज्झम मग्ग' का - मध्यम मार्ग का - आचरण करने के लिए सर्व साधारण को उपदेश किया है । बहुत तेज दौड़ने वाले जल्दी थक जाते हैं और बहुत धीरे-धीरे चलने वाले अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने में पिछड़ जाते हैं । जो मध्यम गति से चलता है वह बिना थके, बिना पिछड़े उचित समय पर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है ।

हाथी जब किसी नदी को पार करता है तो अपना हर एक कदम बड़ी सावधानी से रखता है । आगे की जमीन को टटोल कर उस पर एक पैर जमाता है । जब देख लेता है कि कोई खतरा नहीं तो उस पर बोझ रख कर पिछले पैरों को हटाता है । इस गति विधि से वह उस भारी काम को पूरा कर लेता है । यदि वह जल्दवाजी करे तो वह गहरे

पानी में डूब सकता है, किसी दल-दल में फँस सकता है, या किसी गड्ढे में औंधे मुँह पटक खाकर प्राण गँवा सकता है । साथ ही यदि वह कदम बढ़ाने का कार्य न करे, पानी की विस्तृत धारा को देख कर डर जाय तो नदी पार नहीं कर सकता । हाथी बुद्धिमान प्राणी है । वह अपने भारी भरकम डीलडौल का ध्यान रखता है, नदी पार करने की आवश्यकता अनुभव करता है, पानी के विस्तृत फैलाव को समझता है । इन सब बातों का ध्यान रखते हुए वह अपना कार्य गंभीरता पूर्वक आरम्भ करता है । जहाँ खतरा दीखता है वहाँ से पैर पीछे हटा लेता है और फिर दूसरी जगह होकर रास्ता ढूँढ़ता है । इस प्रकार वह अपना कार्य पूरा कर लेता है ।

मनुष्य को भी हाथी की सी बुद्धिमानी सीखनी चाहिए और अपने कार्यों को मध्यम गति से पूरा करना चाहिए । विद्यार्थी कितनी ही उतावली करे एक दो महीने में अपनी शिक्षा पूरी कर नहीं सकता, कर भी लेगा तो उसे जल्दी भूल जायगा । क्रम-क्रम से नियतकाल में पूरी हुई शिक्षा ही मस्तिष्क में सुस्थिर रहती है । पेड़, पौधे, वृक्ष, पशु-पक्षी सभी अपनी नियत अवधि में परिपक्व फल देने लायक तथा वृद्ध होते हैं यदि उस नियति गति विधि में जल्दबाजी की जाय तो परिणाम बुरा होता है । हमें अपनी शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता, मनोभूमि, परिस्थिति आदि को यान में रखकर निर्धारित कार्यों को पूरा करना चाहिए ।

बहुत खाना, भूख से ज्यादा खाना बुरा है- इसी प्रकार बिल्कुल न खाना-भूखे रहना बुरा है । अति का भोग बुरा है पर अमर्यादित तप भी बुरा है । अधिक विषयी क्षीण हो कर असमय में ही मर जाते हैं, पर जो अमर्यादित अतिशय तप करते हैं, शरीर को अत्यधिक कस डालते हैं वे भी दीर्घ जीवी नहीं होते । अति का कंजूस होना ठीक नहीं, पर इतना दानी होना भी किस काम का कि कल खुद को ही दाने-दाने का मुँहताज बनना पड़े । आलस्य में पड़े रहना हानि कारक है पर सामर्थ्य से अधिक श्रम करते रह कर जीवनी शक्ति को समाप्त कर डालना भी लाभदायक नहीं । कुबेर बनने की तृष्णा में पागल बन जाना या कंगाली में दिन काटना दोंनो ही स्थितियाँ अवांछनीय हैं ।

नित्य मिठाई ही खाने को मिले तो उससे अरुचि के साथ-साथ दस्त भी शुरू हो जायेंगे । भोजन में मीठे की मात्रा बिल्कुल न हो तो चमडी पीली पड़ जायगी । बहुत घी खाने से मन्दाग्नि हो जाती है पर यदि

बिल्कुल घी न मिले तो खून खराब हो जायेगा । बिल्कुल कपड़े न हों तो सर्दी में निमोनियां हो जाने का और गर्मी में लू लग जाने का खतरा है, पर जो कपड़ों के परतों से बेतरह लिपटे रहते हैं उनका शरीर आम की तरह पीला पड़ जाता है । बिल्कुल न पढ़ने से मस्तिष्क का विकास नहीं होता पर दिन रात पढ़ने की धुन में व्यस्त रहने से दिमाग खराब हो जाता है आँखें कमजोर पड़ जाती हैं ।

घोर, कट्टर, असहिष्णु, सिद्धाँतवादी बनने से काम नहीं चलता । दूसरों की भावनाओं का भी आदर करके सहिष्णुता का परिचय देना पड़ता है । अन्ध भक्त बनना या अविश्वासी होना दोनों ही बातें बुरी हैं । विवेक पूर्वक हंस की भांति नीर क्षीर का अन्वेषण करते हुए ग्राह्य और अग्राह्य को प्रथक करना ही बुद्धि मानी है । देश काल और पात्र के भेद से नीति व्यवहार और क्रिया पद्यति में भेद करना पड़ता है । यदि न करें तो हम अतिवादी कहे जायेंगे । अतिवादी-आदर्श तो उपस्थित कर सकते हैं, पर नेतृत्व नहीं कर सकते ।

आदर्शवाद हमारा लक्ष्य होना चाहिए, हमारी प्रगति उसी ओर होनी चाहिए, पर सावधान ! कहीं अपरिपक्व अवस्था में ऐसी बड़ी छलांग न लगाई जाय, जिसके परिणाम स्वरूप टांग टूटने की यातना सहनी पड़े । कड़े कार्यों को पूरा करने के लिए मजबूत व्यक्तित्व की आवश्यकता है । मजबूत व्यक्तित्व धैर्यवानों का होता है । उतावली करने वाले छछोरे या रेंगने वाले आलसी नहीं, महत्वपूर्ण सफलतायें वे प्राप्त करते हैं जो धैर्यवान होते हैं, जो विवेक पूर्वक मजबूत कदम उठाते हैं और जो अतिवाद के आवेश से बचकर मध्यम मार्ग पर चलने की नीति को अपनाते हैं । नियमितता., दृढ़ता, एवं स्थिरता के साथ समगति से कार्य करते रहने वाले व्यक्तियों के द्वारा ही उपयोगी संतुलित कार्यों का सम्पादन होता है ।

एकांगी विकास की हानियाँ

मानसिक असंतुलन से मनुष्य के व्यक्तित्व का एकांगी विकास होता है । हममें से प्रत्येक व्यक्ति मानसिक रूप से नई परिस्थितियों में फिट होने का प्रयत्न करता रहता है । यदि हम अपने घर, पेशे, वातावरण के अनुसार अपने मानसिक संस्थान को ढक लेते हैं तो हमें कार्य में प्रसन्नता और मन में शान्ति प्राप्त होती है । अन्यथा हमारा मन अतृप्त और हमारी आत्मा अशान्त रहती है ।

उदाहरण स्वरूप कुछ ऐसे विचार और तथ्य होते हैं जिनके प्रति हम ईर्ष्यालु हो उठते हैं । हम इन विचारों से बच नहीं सकते । उनके बावजूद हमें इन्हीं विरोधी विचारों में कार्य करना है, उनसे मित्रता करनी है । तभी हमें मानसिक शान्ति प्राप्त हो उठेगी ।

मन में आन्तरिक संघर्ष का क्या कारण है ? दो विरोधी विचार, दो विभिन्न दृष्टिकोण हमारे मानसिक क्षितिज पर उदित होते हैं । हमें इन दोंनो के बावजूद कार्य करना है । संतुलन ही शान्ति का एक मात्र उपाय है ।

चोरी करने वाला व्यक्ति वह है जो अपने विचार, भावना और अन्तरात्मा में पारस्परिक संतुलन नहीं कर पाता । उसकी लालच और मोह की प्रवृत्ति अन्तरात्मा को दबा देती है । वह मोह को लम्बा छोड़ देता है और स्वयं भी उसमें लिपट जाता है । सत्य और न्याय की पुकार दब जाती है । पापमयी वृत्ति की विजय होती है । शैतान बच्चे, झगड़ालू औरतें, सब इस मानसिक रोग के शिकार होते हैं । वे मानसिक जगत को ठीक तरीके से संचालित और संतुलित नहीं कर पाते हैं । कोई विकार इतना तीव्र हो जाता है, जो विवेक बुद्धि को दबाकर उनके स्वभाव का एक अंग बन जाता है ।

मन की क्रियाओं को तीन भागों में विभाजित किया जाता है, १-भावना, २-विचार, ३-क्रियायें । ऐसे बहुत कम व्यक्ति हैं, जिनमें उपरोक्त तीनों क्रियाओं का पूर्ण सामन्जस्य या पूर्ण संतुलन हो । किसी में भावना का अंश अधिक है तो वह भावुकता से भरा है, आवेशों का विचार रहता है । उसकी कमजोरी-अति संवेदन शीलता है । वह जरा सी भावना को तिल का ताड़ बनाकर देखता है ।

विचार प्रधान व्यक्ति दर्शन की गूढ़ गुत्थियों में ही डूबते उतराते रहते हैं । नाना कल्पनाऐं उनके मानस क्षितिज पर उदित अस्त होती रहतीं हैं । योजना बनाने का कार्य उनसे खूब करा लीजिए । पर असली काम के नाम वे शून्य हैं ।

तीसरे प्रकार के व्यक्ति सोचते कम हैं, भावना में नहीं बहते हैं पर काम खूब करते रहते हैं । इन कार्यों में ऐसे भी काम वे कर डालते हैं जिनकी आवश्यकता नहीं होती तथा जिनके बिना भी उनका काम चल

सकता है ।

पूर्ण संतुलित वही व्यक्ति है जिसमें भावना, विचार तथा कार्य, इन तीनों ही तत्वों का पूर्ण सामंजस्य या मेल हो । ऐसा व्यक्ति मानसिक दृष्टि से पूर्ण स्वस्थ है ।

हमें चाहिए कि हम 'अति' से अपनी रक्षा करें और इस प्रकार असंतुलन से बचे रहें । कहने का तात्पर्य यह है कि अति भावुकता के चक्र में पड़ कर ऐसा न कर डालें, ऐसे वायदे न कर बैठें जिन्हें बाद में पूर्ण न कर सकें । इतने विचार-प्रधान न बन जायें कि सम्पूर्ण समय सोचते विचारते, चिन्तन करते-करते ही व्यतीत हो जाय । विचार करना उचित है किन्तु विचारों ही में निरन्तर डूबे रहना और कार्य न करना हमें मानसिक रूप से आलसी बना डालेगा ।

अच्छे व्यक्ति के निर्माण में क्रिया, भावना, तथा विचार शक्ति इन तीनों आवश्यक तत्वों का पूर्ण विकास होना चाहिए । जो व्यक्ति काम, क्रोध, आवेश, उद्वेग इत्यादि में निरत रहते हैं, उन्हें भावनाजन्य मानसिक व्याधियों का परित्याग करना चाहिए । जो केवल कागजी योजना से और व्योम-विहारिणी कल्पनाओं में लगे रहते हैं , इन्हें सांसारिक दृष्टिकोण से अपनी योजनाओं की सत्यता जांचनी चाहिए । इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों को अपने कार्यों को जीवन में प्रकट करना चाहिए । हम महान पुरुषों में देखते हैं कि उनकी बुद्धि पूर्ण विकास को पहुँच चुकी थी, विचार और इच्छा शक्ति बड़ी बलवती थी और कार्य शक्ति उच्चकोटि की थी । महात्मा गांधी ऐसे संतुलित व्यक्तित्व के उदाहरण थे ।

जीवन में संतुलन का महत्व

एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कीजिए जो हवा के भयंकर तूफान में चला जा रहा है । धूल से उसके नेत्र क्षण भर के लिए बन्द हो जाते हैं । अधिमिचे नेत्रों से वह दूसरी ओर बहक जाता है । ठीक मार्ग पर आरूढ़ होना चाहता है किन्तु मार्ग नहीं सूझता ।

यही हाल मानव के अन्तर्जगत का है । वह अन्दर ही अन्दर अनेक विरुद्ध भावनाओं का शिकार रहता है । प्रलोभन का मायाजाल और वासना की आंधी उसे घेरे रहती है और वासना तृप्ति के लिए वह इधर

उधर भटकता रहता है । उसे पथ भ्रष्ट होते देख उसकी शुभ शक्तियां उसे सचेत करती हैं । यदि उनकी शक्ति अधिक हो तो व्यक्ति बच जाता है , अन्यथा पतन के गर्त में विलीन हो जाता है ।

मानव जीवन में अनेक आन्तिरिक एवं बाह्य शक्तियों का प्राधान्य है । भावना कहती है—:

"अमुक व्यक्ति बड़ी दयनीय स्थिति में है । उसकी सहायता करें, अपने सुख सुविधा, साधनों को न देखें । कर्ण, शिवि, राजा हरिश्चन्द्र का उदाहरण लीजिए । इन महापुरुषों ने दया, करुणा, सहानुभूति और दान द्वारा महान पद प्राप्त किया । हमें भी यही करना चाहिए । अपने सुख सुविधा इत्यादि का कोई ध्यान न रखना चाहिए ।"

तर्क आपको रोकता है और कहता है —"क्या पागल हुए हो, सोचो विचारो, दिमाग से काम लो । यदि साधनों का ध्यान छोड़कर व्यय किया, दूसरों से बड़े बड़े बायदे किए तो आफत में फँस जाओगे । भावना में मत बहो । समाज रुपये का आदर करता है।"

विलास भावनाऐं कहती हैं—"अरे मानव तूने बहुत श्रम कर लिया है । अब कुछ आनन्द मना ले । जीवन का रस ले । बार बार जीवन आने वाला नहीं है ।"

इस प्रकार मानव के आन्तरिक जीवन में भावना, तर्क, वासना, शरीर बल, आत्म बल, प्रेम, द्वेष, घृणा इत्यादि परस्पर विरुद्ध शक्तियों का अविराम ताण्डव चलता रहता है । जो इन शक्तियों का उचित समन्वय कर सकता है वही सफल है ।

जीवन में भावना की आवश्यकता है बिना भावना का मनुष्य मिट्टी या पत्थर का पुतला मात्र बन जाता है । तर्क अर्थात् विवेक की आवश्यकता भी है । जो सोच समझ कर कार्य न करे, बुद्धि से काम न ले, वहतो निराट पशु ही है । इसी प्रकार वासना, घृणा, प्रेम इत्यादि सबका अपने अपने स्थान पर महत्त्व है । पर सुख और सफलता मानव की विभिन्न शक्तियों के संतुलन में ही है । असंतुलन में पराजय छिपी हुई है ।

सिकन्दर महान, जूलियस सीजर और औरंगजेब की अत्यंत बड़ी महत्वाकांक्षाओं का परिणाम हमारे सामने है । कर्ण के पतन का कारण

अति भावुकता थी, रावण दर्प के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

तर्कशील, भावनाशील, कर्मशील–तीनों ही प्रकार के मानव जीवन में अमर्यादित संतुलन से असफल हो सकते हैं । इसलिए यह ध्यान रखें कि कहीं आपके व्यक्तित्व का एक ही पहलू विकसित न होता रहे । सभी संतुलित रूप में विकसित होते रहें । अतिरेक त्याज्य है । ध्येय और व्यवहार, कर्म और भावना, परिश्रम और विश्राम, तर्क और कार्य इन सभी द्वन्दों में उचित समन्वय का नाम ही जीवन है ।

उत्तेजना के दुष्परिणाम

कहते हैं आदिम जाति में एक बहुत बड़ी मानसिक कमजोरी रहती है, जिसे उत्तेजना कहा जाता है । आदिम जातियों में नृशंस हत्याओं और मारपीटों का विशेष कारण यही उत्तेजना होता है । लड़का यदि अपने पिता से क्रुद्ध और उत्तेजित हो उठा तो एक ही आवेश में वह पिता की हत्या कर बैठता है । यही स्थिति पिता अथवा अन्य कुटुम्बियों की है । क्रोध पर ये काबू कर नहीं पाते और क्षणिक आवेश में हत्या, मार पीट, खून खराबी हो जाती है । छोटी–छोटी बातों पर लड़ाई झगड़े चलते रहते हैं । पारस्परिक कटुता की अभिवृद्धि होती रहती है । एक दूसरे के प्रति बैर, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा इत्यादि विषैले मनोविकार पनपते रहते हैं ।

उत्तेजना क्या है ? इसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि यह उद्वेग का आधिक्य है । साधारणतः व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं । एक तो वे जिन्हें 'मोटी चमड़ी' का कह सकते हैं । इन व्यक्तियों में भावनायें कम होतीं हैं । इन्हें कुछ कह दीजिए इनके मन में कोई प्रभाव न पड़ेगा । गाली गलौज या मान हानि से भी वे उत्तेजित न होंगे । ये भावना के आक्रोश में नहीं रहते । क्रोध, घृणा, ईर्ष्या क्षणिक आवेश का इन पर कोई शीघ्रव्यापी प्रभाव नहीं होता ।

दूसरे व्यक्ति भावुक और अति उद्विग्न होते हैं मक्खन की तरह कोमल, छुई मुई के पौधे के समान संवेदनशील, भावना की अधिकता इनकी दुर्बलता है । भावना अर्थात् क्रोध, प्रेम, वात्सल्य, दया, ईर्ष्या इत्यादि मनोविकारों को अत्यधिक गहराई से अनुभव करना और उन्हीं

के वश में इतना हो जाना कि स्वयं अपनी विवेक बुद्धि को भी खो डालना । लाभ हानि या अन्तिम परिणाम का ख्याल न रखना इनकी कमजोरी है । जो गुण एक कवि में सौभाग्य का विषय है, वही मनोविकारों के ऊपर नियन्त्रण न कर सकने वाले व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है । ये अपनी उत्तेजनाओं के ऊपर विवेक बुद्धि का नियन्त्रण नहीं कर पाते और स्वयं उनके वशीभूत हो जाते हैं ।

उत्तेजना एक क्षणिक पागलपन है । यह भावना का ताण्डव नृत्य है, उद्वेग एक आंधी है, ईर्ष्या, क्रोध, प्रतिशोध का एक भयंकर तूफान है, जिसे निर्बल इच्छा शक्ति वाला व्यक्ति संभाल नहीं पाता अपने आपे को खो देता है ।

उत्तेजना की आंधी में बुद्धि विवेक शून्य तथा निश्चेष्ट हो जाती है, यह उत्तरोत्तर बढ़ कर शरीर पर पुरा अधिकार कर लेती है । भावना के उद्वेग में नीर-क्षीर, विवेक का ज्ञान लुप्त हो जाता है । उत्तेजक स्वभाव वाला व्यक्ति दूरदर्शिता को खो बैठता है । कभी-कभी उसे अपनी शक्तियों का ज्ञान तक नहीं रहता । कमजोर व्यक्ति भी उत्तेजना का शिकार हो कर मजबूत व्यक्ति से लड़ बैठते हैं । बातों बातों में उग्र हो जाते हैं । हाथा पाई की नौबत आ जाती है । जिससे व्यर्थ की हानि उठानी पड़ती है ।

संतुलित जीवन की विघातक प्रवृत्तियाँ

संतुलित जीवन के शत्रु हमारे आन्तरिक मनोविकार ही होते हैं । ये शत्रु हमारे मन के विभिन्न स्तरों में निवास करते हैं । और प्रत्येक व्यक्ति में थोड़ी बहुत मात्रा में विद्यमान रहते हैं । जो मनुष्य इनसे जितने अंशों में मुक्ति पा जाता है, वह उतना ही सभ्य और सुसंस्कृत समझा जा सकता है । इसलिए मनुष्य का कर्तव्य है कि इन शत्रुओं-मन की कुप्रवृत्तियों को जहाँ तक संभव हो नियंत्रण में रखें ।

ये शत्रु हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, घृणा, द्वेष । इन दुर्गुणों को स्वच्छन्दता देने से मानसिक विष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है, बुद्धि में तमोगुण का प्राचुर्य होता है । और मनुष्य भ्रम वश सत् असत् का विवेक नहीं कर पाता । इन शत्रुओं में कोई एक भी यदि बढ़ जाय तो सर्वनाश करने में पूर्ण समर्थ है । ये मानसिक विष यदि वहिर्गत न किये

गये तो आयु पर्यन्त मनुष्य के साथ रहेंगे, सदा उसे आन्तरिक ज्वाला में दग्ध करते रहेंगे, और न जाने कितनी बार जन्म मरण की मार्मिक पीड़ा देंगे । मनुष्य की नाना प्रवृत्तियों के नीचे ये विकार पाये जाते हैं । ये मानसिक विष प्रायः दुर्भावनाओं की जटिल मानसिक ग्रंथियाँ बन जाते हैं, मस्तिष्क में संघर्ष उत्पन्न कर देते हैं और अनेक जटिल व्याधियों के रूप में प्रगट होते हैं ।

प्रायः इन मानसिक शत्रुओं से ग्रसित व्यक्ति को यह ज्ञान नहीं रहता कि वह उनके पंजे में है या नहीं । क्रोधी स्वयं नहीं जानता कि वह ईर्ष्या की मिट्‌टी में जल रहा है, कभी नहीं समझता कि वीर्य नाश द्वारा वह अपने स्वास्थ्य आयु और शरीर को जर-जर बना रहा है । कंजूस माया के मोह में फँस कर विवेक बुद्धि को शून्य बना लेता है । कभी-कभी तमो गुण के अधिकार में रहने के कारण मनुष्य इन दुर्गुणों में ही सुख और संतोष की भावना करने लगता है । मनुष्य भ्रम वश व्यक्ति से, समाज से, जाति और राष्ट्र से, असूया, घृणा करने में अपनी प्रतिष्ठा की गणना होते देखता है । कामनाओं के पोषण करने का नाम प्रगति रखता है । अन्दर बसी हुई क्रोध की वृत्ति को तेज मानने लगता है, मान का नाम आत्म सम्मान रखकर उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझने लगता है । लोभ को अपनी उन्नति का साधन समझता है, मोह का नाम प्रेम रखकर जीवन को बर्बाद कर देना आदर्श मानता है । इसलिए ये दुर्गुण ऐसे मनुष्यों में बढ़ते चले जाते हैं ।

इन मानसिक शत्रुओं की पारस्परिक घनिष्ठता है, एक के आने पर दूसरा स्वयं आता है । एक दूसरे के लिए मैदान तैयार करता है । मोह से ईर्ष्या और डाह उत्पन्न होते हैं । द्वेष से बैर की सृष्टि होती है , क्रोध मद और अभिमान उत्पन्न करता है । घृणा से द्वेष का दुर्भाव पैदा होता है । इन मनोविकारों का द्वन्द नाना विषयों के अनुसार अनेक रूपों में प्रकट होता है । विचार की मूल अनुभूति ही विषय भेद के अनुसार क्रोध, भय, घृणा, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है ।

क्रोध पतन की ओर ढकेलता है

क्रोध का सम्बन्ध मन के अन्य विकारों से घनिष्ठ है । क्रोध के वशीभूत होकर हमें उचित अनुचित का विवेक नहीं रहता और हम हाथापाई कर बैठते हैं । बातों-बातों ही में उखड़ पड़ना, लड़ाई झगड़ा करना साधारण सी बात है । यदि तुरन्त क्रोध का प्रकाशन हो जाय तब तो मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से ठीक है । पर यदि वह अन्तः प्रदेश में पहुँच कर एक भावना ग्रन्थि बन जाय तो बड़ी दुःखदाई होती है । बहुत दिनों तक टिका हुआ क्रोध बैर कहलाता है । बैर एक ऐसी मानसिक बीमारी है जिसका कुफल मनुष्य को दैनिक जीवन में भुगतना पड़ता है । वह अपने आप को संतुलित नहीं रख पाता, जिससे उसे बैर है, उसके उत्तम गुण, भलाई, पुराना प्रेम, उच्च संस्कार आदि सब विस्मृत कर बैठता है । स्थाई रूप से एक भावना ग्रन्थि बन जाने से क्रोध का वेग तो धीमा पड़ जाता है, किन्तु दूसरे व्यक्ति को सजा देने, नुकसान पहुँचाने या पीड़ित करने की कुत्सित भावना निरन्तर मन को दग्ध किया करती है ।

बैर पुरानी जीर्ण मानसिक बीमारी है, क्रोध तात्कालिक और क्षणिक प्रमाद है । क्रोध में पागल हो कर हम सोचने का समय नहीं देखते बैर उसके लिए बहुत समय लेता है । क्रोध में अस्थिरता, क्षणिकता, तत्कालीनता, बुद्धि का कुण्ठित हो जाना, उद्विग्नता, आत्मरक्षा, अहंकार की पुष्टि, असहिष्णुता, दूसरे को दण्डित करने की भावनाऐं संयुक्त हैं ।

क्रोध मन को एक उत्तेजित और खिंची हुई स्थिति में रख देता है जिसके परिणाम स्वरूप मन दूषित विकारों से भर जाता है । क्रोध से प्रथम तो उद्वेग उत्पन्न होता है । मन एक गुप्त किन्तु तीव्र पीड़ा से दग्ध होने लगता है । रक्त में गर्मी आ जाती है । और उसका प्रवाह बड़ा तेज हो जाता है । इस गर्मी में मनुष्य के शुभ भाव, दया , प्रेम , सत्य, न्याय, विवेक, बुद्धि जल जाते हैं ।

क्रोध एक प्रकार का भूत है, जिसके सवार होते ही मनुष्य आपे में नहीं रहता । उस पर किसी दूसरी सत्ता का प्रभाव हो जाता है । मन की निन्द्य वृत्तियाँ उस पर अपनी राक्षसी माया चढ़ा देती हैं, वह बेचारा

इतना हतबुद्धि हो जाता है कि उसे यह ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है ।

आधुनिक मनुष्य का आन्तिरिक जीवन और मानसिक अवस्था अत्यंत विक्षुब्ध है, दूसरों में वह अनिष्ट देखता है, उससे हानि होने की कुकल्पना में डूबा रहता है । जीवन पर्यन्त इधर उधर लुढ़कता, ठुकराया जाता रहता है, शोक, दुःख, चिन्ता, अविश्वास, उद्वेग, व्याकुलता आदि विकारों के वशीभूत होता रहता है । ये क्रोध जन्य मनोविकार अपना विष फैला कर मनुष्य का जीवन विषैला बना रहे हैं । उसकी आध्यात्मिक शक्तियों का शोषण कर रहे हैं । साधना का सबसे बड़ा विघ्न क्रोध नाम का राक्षस ही है ।

क्रोध शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है । एक बार क्रोध आते ही मन की अवस्था विचलित हो उठती है । श्वासोच्छवास तीव्र हो उठता है, हृदय विक्षुब्ध हो उठता है । यह अवस्था आत्मिक विकास के विपरीत है । आत्मिक उन्नति के लिए शान्ति, प्रसन्नता. प्रेम और सद्भाव चाहिए ।

जो व्यक्ति क्रोध के वश में है, वह एक ऐसे दैत्य के वश में है, जो न जाने कब मनुष्य को पतन के मार्ग में धकेल दे । क्रोध तथा आवेश के विचार आत्मबल का ह्रास करते हैं ।

ईर्ष्या की आन्तरिक अग्नि

ईर्ष्या वह आन्तरिक अग्नि है जो अन्दर ही अन्दर दूसरे की उन्नति या बढ़ती प्रगति देखकर हमें भस्मीभूत किया करती है । दूसरे की भलाई या सुख देख कर मन में जो एक प्रकार की पीड़ा का प्रादुर्भाव होता है, उसे ईर्ष्या कहते हैं ।

ईर्ष्या एक संकर मनो विकार है जिसकी संप्राप्ति आलस्य अभिमान और नैराश्य के संयोग या जोड़ से होती है । अपने आपको दूसरे से ऊँचा मानने की भावना अर्थात् मनुष्य का 'अहं' इसके साथ संयुक्त होता है ।

ईर्ष्या मनुष्य की हीनत्व भावना से संयुक्त है । अपनी हीनत्व भावना ग्रन्थि के कारण हम किसी उद्देश्य या फल के लिए पूरा प्रयत्न तो कर नहीं पाते, उसकी उत्तेजित इच्छा करते रहते हैं । हम सोचते हैं-'क्या करें

हमारे पास अमुक वस्तु या चीज होती, हाय ! वह चीज तो उसके पास है, हमारे पास नहीं, वह वस्तु यदि हमारे पास नहीं है तो उसके पास भी न रहे ।'

ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है । इसमें मनुष्य दूसरे की बुराई ,अपकर्ष, पतन, त्रुटि की भावनायें मन में लाता है । स्पर्धा ईर्ष्या की पहली मानसिक अवस्था है । स्पर्धा की अवस्था में किसी सुख, ऐश्वर्य, गुण या मान से किसी व्यक्ति विशेष को सम्पन्न देख अपनी त्रुटि पर दुःख होता है, फिर उसकी प्राप्ति की एक प्रकार की उद्वेग पूर्ण इच्छा उत्पन्न होती है । स्पर्धा वह वेग पूर्ण इच्छा या उत्तेजना है जो दूसरे से अपने आप को बढ़ाने में हमें प्रेरणा देती है । स्पर्धा बुरी भावना नहीं, यह वस्तुगत है । इसमें हमें अपनी कमजोरियों पर दुःख होता है । हम आगे बढ़कर अपनी निर्बलता को दूर करना चाहते हैं ।

स्पर्धा व्यक्ति विशेष से होती है, ईर्ष्या उन्हीं से होती है जिनके विषय में यह धारणा होती है कि लोगों की दृष्टि उन पर अवश्य पड़ेगी या पड़ती होगी । ईर्ष्या के संचार के लिए पात्र के अतिरिक्त समाज की भी आवश्यकता है । समाज में उच्च स्थिति, दूसरों के सम्मुख अपनी नाक ऊँची रखने के लिए ईर्ष्या का जन्म होता है । हमारे पास वह वस्तु न देख कर भी मनो विकार का संचार हो जाता है ।

ईर्ष्या में क्रोध का भाव किसी न किसी प्रकार मिश्रित रहता है ईर्ष्या के लिए कहा भी जाता है कि "अमुक व्यक्ति ईर्ष्या से जल रहा है।" साहित्य में ईर्ष्या को संचारी रूप में समय – समय पर व्यक्त किया जाता है । पर क्रोध बिल्कुल जड़ भाव है । जिसके प्रति हम क्रोध करते हैं, उसके मानसिक उद्देश्य पर ध्यान नहीं देते । असम्पन्न ईर्ष्या वाला केवल अपने को नीचा समझे जाने से बचने के लिए आकुल रहता है । धनी व्यक्ति दूसरे को नीचा देखना चाहता है ।

ईर्ष्या दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा की आपूर्ति से उत्पन्न होती है । यह अभिमान को जन्म देगी , अहंकार की अभि वृद्धि करेगी और कुढ़न का ताना बाना बुनेगी । अहंकार से आहत होकर हम दूसरे की भलाई न देख सकेंगे । अभिमान में मनुष्य को अपनी कमजोरियाँ नहीं दीखती । अभिमान का कारण अपने विषय में बहुत ऊँची मान्यता धारण

कर लेना है । ईर्ष्या उसी की सहगामिनी है ।

ईर्ष्या द्वारा हम मन ही मन दूसरे की उन्नति देख कर मानसिक दुःख का अनुभव किया करते हैं । अमुक मनुष्य ऊँचा उठता चला जा रहा है । हम यों ही पड़े हैं, उन्नति नहीं कर पारहे हैं । फिर वह भी क्यों इस प्रकार उन्नति करे । उसका कुछ बुरा होना चाहिए, उसे कोई दुःख, रोग, शोक, कठिनाई अवश्य पड़नी चाहिए । उसकी बुराई हमें करनी चाहिए । यह करने से उसे अमुक प्रकार से चोट लगेगी । इस प्रकार की विचार धारा से ईर्ष्या निरन्तर मन को क्षति पहुँचाती है । अशुभ विचार करने से सद्प्रवृत्तियों तथा प्राण शक्ति का क्रमशः ह्रास होने लगता है ।

ईर्ष्या से उन्मत हो मनुष्य धर्म, नीति तथा विवेक का मार्ग त्याग देता है । उन्मादावस्था सी उसकी साधारण अवस्था हो जाती है और दूसरे लोगों की उन्माद और साधारण अवस्था उसे अपवाद के सदृश्य प्रतीत होती है । मस्तिष्क में नाना प्रकार की विकृत मानसिक अवस्थाओं की उत्पत्ती होती है । भय, घबराहट, भ्रम ये सब मनुष्य की ईर्ष्या और विवेक बुद्धि के अपकर्ष से उत्पन्न होते हैं ।

प्रत्येक क्रिया से प्रतिक्रिया की उत्पत्ति होती है ईर्ष्या की क्रिया से मन के बाह्य वातावरण में जो प्रतिक्रियायें उत्पन्न होतीं हैं वे विषैली होती हैं । अपनी अपवित्र भावनायें इर्द गिर्द के वातावरण को दूषित कर देतीं हैं । वातावरण विषैला होने से सबका अपकार होता है । जो ईर्ष्या की भावनायें आपने दूसरों के विषय में निर्धारित की हैं, संभव है दूसरे भी प्रतिक्रिया स्वरूप वैसी ही धारणायें आपके लिए मन में लाऐं ।

निराशा हमारी महान शत्रु है

निराशावाद उस महा भयंकर राक्षस के समान है जो मुँह फाड़े हमारे इस परम आनन्दमय जीवन के सर्वनाश के चक्कर में रहता है, जो हमारी समस्त शक्तियों का ह्रास किया करता है । जो हमें आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर नहीं होने देता और जीवन के अंधकार मय अंश हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया करता है । हमें पग पग पर असफलता ही असफलता दिखाता है और विजय द्वार में प्रविष्ट नहीं होने देता ।

इस बीमारी से ग्रस्त लोग उदास, खिन्न मुद्रा लिए घरों के कोने में

पड़े दिन रात मक्खियाँ मारा करते हैं । ये व्यक्ति ऐसे चुम्बक हैं जो उदासी के विचारों को निरन्तर अपनी ओर आकर्षित करते हैं और दुर्भाग्य की कुत्सित डरपोक विचार धारा में निमग्न रहा करते हैं । उन्हें चारों ओर कष्ट ही कष्ट दीखते हैं । कभी यह, कभी वह, एक न एक भयंकर विपत्ति आती हुई दृष्टिगोचर होती है । वे जब बातें करते हैं तो अपनी यन्त्रणाओं, विपत्तियों और क्लेशपूर्ण अभद्र प्रसंग छोड़ा करते हैं । हर व्यक्ति से वह यही कहा करते हैं कि भाई हम क्या करें, हम बदनसीब हैं, हमारा भाग्य फूटा हुआ है, देव हमारे विपरीत हैं, हमारी किस्मत में विधि ने ठोकरों का ही विधान रखा है , तभी तो हमें थोड़ी-थोड़ी दूर पर लज्जित और परेशान होना पड़ता है ।" उनकी चिन्तित मुद्रा देखने से यही विदित होता है मानो उन्होंने उस पदार्थ से गहरा संबंध स्थिर कर लिया हो, जो जीवन की सब मधुरता नष्ट कर रहा हो , उनके सोने जैसे जीवन का समस्त आनन्द छीन रहा हो, उन्नति के मार्ग को कंटकाकीर्ण कर रहा हो मानो समस्त संसार की दुख विपत्ति उन्हीं के सर पर आ पड़ी हो और उदासी की अन्धकारमय छाया ने उनके ह्रदय पटल को काला बना दिया हो ।

इसके विपरीत आशावाद मनुष्य के लिए अमृत तुल्य है । जैसे तृषित को शीतल जल से, रोगी को औषधि से, अन्धकार को प्रकाश से, बनस्पति को सूर्य से लाभ होता है, उसी भांति आशावाद की संजीवनी बूटी से मृत प्राय मनुष्य में जीवन शक्ति का प्रादुर्भाव होता है । आशा बाद वह दिव्य प्रकाश है जो हमारे जीवन को उत्तरोत्तर परिपुष्ट, समृद्धशाली और प्रगतिशील बनाता है । सुख सौन्दर्य एवं अलौकिक छटा से उसे विभूषित कर उसका पूर्ण विकास करता है । उसमें माधुर्य का संचार कर विघ्न बाधा, दुख, क्लेशों और कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने वाली गुप्त मनः शक्ति जाग्रत करता है । आत्मा की शक्ति से देदीप्यमान आशावादी उम्मीद का पल्ला पकड़े प्रलोभनों को रोंदता हुआ अग्रसर होता है । वह पग-पग पर विचलित नहीं होता, उसे कोई पराजित नहीं कर सकता, संसार की कोई शक्ति उसे नहीं दबा सकती क्योंकि सब शक्तियों का विकास करने वाली 'आशा' की शक्ति सदैव उसकी आत्मा को तेजोमय करती है ।

संसार के कितने ही व्यक्ति अपने जीवन को उचित, श्रेष्ठ और श्रेय के मार्ग पर नहीं लगाते । वे किसी एक उद्देश्य को स्थिर नहीं करते, न

वे अपने अपने मानसिक संकल्प को इतना दृढ़ हो बनाते हैं कि निज प्रयत्नों में सफल हो सकें । सोचते कुछ और हैं । काम किसी एक पदार्थ के लिए करते हैं, आशा किसी दूसरे की ही करते हैं । करील के वृक्ष बोकर आम खाने की अभिलाषा रखते हैं । हाथ में लिए हुए कार्य के विपरीत मानसिक भाव रखने से हमें अपनी निर्दिष्ट वस्तु कदापि प्राप्त नहीं हो सकती । बल्कि हम इच्छित वस्तु से और भी दूर जा पड़ते हैं । तभी तो नाकामयाबी, लाचारी. तंगी, क्षुद्रता प्राप्त होती है । अपने को भाग्य हीन समझ लेना, बेबसी की बातों को लेकर झींकना और दूसरों की इष्ट सिद्धि पर कुढ़ना हमें सफलता से दूर ले जाता है । विरोधी भाव रखने से मनुष्य उन्नत अवस्था में कदापि नहीं पहुँच सकता । संसार के साथ अविरोधी रहो, क्यों कि विरोध संसार की उत्कृष्ट वस्तुओं को अपने निकट नहीं आने देता और अविरोध उत्कृष्ट वस्तुओं का आकर्षक बिन्दु है ।

चिड़चिड़ापन और रूखापन

मानव स्वभाव के दुर्गुणों में चिड़चिड़ापन आन्तिरिक बल की दुर्बलता का सूचक है । सहिष्णुता के अभाव में मनुष्य बात--बात में बिगड़ने लगता है, नाक भौं सिकोड़ता है । प्रायः गाली गलौज देता है । मानसिक दुर्बलता के कारण वह समझता है कि दूसरे उसे जान बूझकर परेशान करना चाहते हैं , उसके दुर्गणों को देखते हैं, उसका मजाक उड़ाते हैं । किसी पुरानी अनुभूति के फलस्वरूप वह अधिक संवेदन शील हो उठता है और उसकी भावना ग्रन्थियाँ उसकी गाली गलौज या बेढंगे व्यापारों में प्रकट होती हैं ।

चिड़चिड़े पन के रोगी में चिन्ता तथा शक शुबे की आदत प्रधान है । कभी कभी शारीरिक कमजोरी के कारण कब्ज, परिश्रम से थकान, सरदर्द, नपुंसकता के कारण आदमी तिनक उठता है । अपनी कठिनाईयों तथा समस्यायों से उद्दीप्त होकर देखते देखते उसे गहरी निराशा हो जाती है । चिड़चिड़ापन एक पेचीदा मानसिक रोग है अतः प्रारम्भ से ही इसके विषय में हमें सावधान रहना चाहिए ।

जिस व्यक्ति में चिड़चिड़ेपन की आदत है वह सदा दूसरों के दोष ढूँढ़ता रहता है । वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि में तो बुरा होता ही है, स्वयं भी एक अव्यक्त मानसिक उद्वेग का शिकार रहता है ।

उसके मन में एक प्रकार का संघर्ष चला करता है । वह भ्रमित कल्पनाओं का शिकार रहता है । उसके संशय ज्ञान-तन्तुओं पर तनाव डालते हैं । भ्रम बढ़ता रहता है और वह मन में ईर्ष्या की अग्नि में दग्ध होता रहता है, वह क्रोधित, भ्रान्त, दुःखी सा नजर आता है तनिक सी बात में उद्विग्नता का बारापार नहीं रहता । गुप्त मन पर प्रारम्भ में जैसे संस्कार जम जाते हैं , उनके फलस्वरूप ऐसा ही होता है । यह आदत से बढ़ने वाला एक संस्कार है जो मनुष्य को सदैव असंतुलित बनाता रहता है ।

रूखापन जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है कई आदमियों का स्वभाव बड़ा नीरस, रूखा, शुष्क, निष्ठुर, कठोर और अनुदार होता है । उनका आत्मीयता का दायरा बहुत ही छोटा होता है । उस दायरे से बाहर के व्यक्तियों तथा पदार्थों में उन्हें कुछ दिलचस्पी नहीं होती, किसी के हानि लाभ, उन्नति अवनति , खुशी, रंज, अच्छाई बुराई से उन्हें कोई मतलब नहीं होता । अपने अत्यन्त ही छोटे दायरे में स्त्री, पुत्र, तिजोरी, मोटर, मकान आदि में उन्हें थोड़ा रस जरूर मिलता है शेष वस्तुओं के प्रति उनके मन में बहुत ही अनुदारता पूर्ण रूखाई होती है । कोई कोई तो इतने कंजूस होते हैं कि अपने शरीर के अतिरिक्त अपनी छाया पर भी उदारता या कृपा नहीं दिखाना चाहते । ऐसे रूखे आदमी यह समझ ही नहीं सकते कि मनुष्य जीवन में कोई आनन्द भी है । अपने रूखे पन के प्रत्युत्तर में दुनियां उन्हें बड़ी रूखी, नीरस, कर्कश, खुदगर्ज कठोर और कुरूप मालूम पड़ती है ।

रूखापन जीवन की सबसे बड़ी कुरूपता है रूखी रोटी में क्या मजा है, रूखे बाल कैसे भद्दे लगते हैं । रूखी मशीन में बड़ी आवाज होती है, पुर्जे जल्दी टूट जाते हैं रूखे रेगिस्तान में कौन रहना पसन्द करेगा । प्राणि मात्र सरसता के लिए तरस रहा है । सौभाग्य के लिए सरसता स्निग्धता की आवश्यकता है मनुष्य का अन्तःकरण रसिक है, कवि है, भावुक है, सौन्दर्य उपासक है, कलाप्रिय है, प्रेम मय है । मानव हृदय का यही गुण है । सहृदयता का अर्थ कोमलता, मधुरता, आर्द्रता है । जिनमें यह गुण नहीं उसे हृदय हीन कहा जाता है । हृदयहीन के अर्थ हैं 'जड़ पशुओं से भी नीचा ।" नीरस व्यक्ति को पशुओं से भी नीचा माना गया है ।

जिसने अपनी विचार धारा और भावनाओं को शुष्क, नीरस और

कठोर बना रखा है, वह मानव जीवन के वास्तविक रस का आस्वादन करने से वंचित ही रहेगा । उस विचारे ने व्यर्थ ही जीवन धारण किया और व्यर्थ ही मनुष्य शरीर को कलंकित किया । आनन्द का श्रोत सरसता की अनुभूतियों में है परमात्मा को आनन्दमय कहा गया है क्यों ? इसलिए कि वह सरस है, प्रेममय है श्रुति कहती है – 'रसोवैसः' अर्थात् परमात्मा रसमय है । उसे प्राप्त करने के लिए अपने अन्दर वैसी ही लचीली, कोमल, स्निग्ध भावनायें उत्पन्न करनी पड़ती हैं ।

आप अपने हृदय को कोमल, द्रवित, पसीजने वाला, दयालु प्रेमी और सरस बनायें । संसार के पदार्थों में जो सरसता का, सौन्दर्य का अपार भण्डार भरा हुआ है, उसे ढूँढ़ना और प्राप्त करना सीखिये । अपनी भावनाओं को जब आप कोमल बना लेते हैं तो आपको अपने चारों ओर अमृत झरता हुआ अनुभव होने लगता है ।

जीवन को सुखी बनाने का मार्ग

उपरोक्त विवेचन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि हमको संसार में सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत करना है तो सदैव उन मनोविकारों को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है जो हमारे मानसिक संतुलन को नष्ट करके, हमको एकांगी बनाकर, हमें पतन की ओर अग्रसर करते हैं । सुख और दुःख संसार में अवश्यम्भावी हैं । इसी प्रकार किसी न किसी दृष्टि से किन्चित छोटा बड़ा होना भी प्रकृति में प्रायः देखा जाता है । पर इन बातों के कारण मन में क्रोध, ईर्ष्या, निराशा आदि का भाव उत्पन्न करना हमारा मानसिक दुर्गुण है । मनुष्य वही है जो सब प्रकार की परस्थितियों में शान्त रहकर अपने कर्तव्य का पालन करता चला जाता है । यदि आप इस नियम पर आचरण करेंगे तो दुःख के दिन, विपरीत घटनायें सहज ही निकल जायेंगे । ऐसे अवसर पर मानसिक संतुलन स्थिर रखना और शान्ति तथा दृढ़ता से विघ्न बाधाओं का प्रतिकार करना ही हमारे लिए सर्वाधिक हितकारी होता है ।

असंतुलन असफलता का मूल कारण है

मानसिक असंतुलन की अशान्त दशा में कोई व्यक्ति न तो सांसारिक उन्नति कर सकता है, न आध्यात्मिक प्रगति संभव होती है । कारण यह है कि उन्नति के लिये, ऊँचा उठने के लिये जिस बल की आवश्यकता होती है, वह बल मानसिक अस्थिरता के कारण एकत्रित नहीं हो पाता । जिस प्रकार हाथ कांप रहा हो तो उस समय बन्दूक का निशाना नहीं साधा जा सकता, उसी प्रकार आवेश या उत्तेजना की दशा में मानसिक कम्पन की अधिकता रहती है । उस उद्विग्नता की दशा में यह निर्णय करना कठिन होता है कि क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए ।

मानसिक असंतुलन और उत्तेजना से अधीरता का भाव उत्पन्न होता है । अधीर होना, ह्रदय की संकीर्णता और आत्मिक बालकपन का चिन्ह है । बच्चे जब बाग लगाने का खेल खेलते हैं तो उनकी कार्य प्रणाली विचित्र होती है । अभी बीज बोया, अभी उसमें खाद पानी लगाया, अभी दो चार मिनट के बाद ही बीज को उलट – पलट कर देखते हैं कि बीज में से अंकुर फूटा या नहीं । जब अंकुर नहीं दीखता तो उसे फिर गाड़ देते हैं और दो चार मिनट बाद फिर देखते हैं । इस प्रकार कई बार देखने पर भी जब वृक्ष उत्पन्न होने की उनकी कल्पना पूरा नहीं होती तो दूसरा उपाय काम में लाते हैं । वृक्षों की टहनियां तोड़कर मिट्टी में गाढ़ देते हैं और उससे बाग की लालसा को बुझाने का प्रयत्न करते हैं । उन टहनियों के पत्ते उठा–उठा कर देखते हैं कि फल लगे या नहीं । यदि दस बीस मिनट में फल नहीं लगते तो कंकड़ों को डोरे से बांध कर टहनियों में लटका देते हैं । इस अधूरे बाग से उन्हें तृप्ति नहीं मिलती । फलतः कुछ देर बाद उस बाग को बिगाड़ कर चले जते हैं । कितने ही जवान और वृद्ध पुरूष भी उसी प्रकार की बाल–क्रीड़ाऐं अपने क्षेत्र में किया करते हैं, किसी काम को बड़े उत्साह से आरम्भ करते हैं, इस 'उत्साह' की अति उतावली बन जाती है । कार्य आरम्भ हुए देर नहीं होती कि यह देखने लगते हैं कि सफलता में अभी कितनी देर है । जरा भी प्रतीक्षा उन्हें सहन नहीं होती । जब उन्हें थोड़े ही समय में रंगीन कल्पनायें पूरी होती नहीं दीखती तो निराश होकर उसे छोड़ बैठते हैं । अनेकों कार्यो को आरम्भ करना और उन्हें बिगाड़ना

ऐसी ही बाल–क्रीड़ाऐं वे जीवन भर करते रहते हैं । छोटे बच्चे अपनी आकांछा और इच्छा पूर्ति के बीच में किसी कठिनाई, दूरी या देरी की कल्पना नहीं कर पाते, इन बाल–क्रीड़ा करने वाले अधीर पुरूषों की भी मनोभूमि ऐसी ही होती है । यदि हथेली पर सरसों न जमी तो खेल बिगाड़ते हुए उन्हें देर नहीं लगती ।

प्राचीन समय में जब शिष्य विद्याध्ययन के लिए गुरु के पास जाता था तो उसे पहले अपने धैर्य की परीक्षा देनी होती थी । गौऐं चरानी पड़ती थीं, लकड़ियां चुननी पड़ती थीं, उपनिषदों में इस प्रकार की अनेकों कथायें हैं । इन्द्र को भी लम्बी अवधि तक इसी प्रकार तपस्या पूर्ण प्रतीक्षा करनी पड़ी थी, जब वह अपने धैर्य की परीक्षा दे चुका, तब उसे आवश्यक विद्या प्राप्त हुई । प्राचीन काल में विज्ञ पुरूष जानते थे कि धैर्यवान पुरूष ही किसी कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए धैर्यवान स्वभाव वाले छात्रों को ही विद्याध्ययन कराते थे । क्योंकि उनके पढ़ाने का परिश्रम भी अधिकारी छात्रों द्वारा ही सफल हो सकता था । चंचल चित्त वाले, अधीर स्वभाव के मनुष्य का पढ़ना न पढ़ना बराबर है । अक्षर ज्ञान होजाने या अमुक कक्षा का सर्टीफिकेट ले लेने से कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ।

आतुरता एवं उतावली का स्वभाव जीवन को असफल बनाने वाला एक भयंकर खतरा है । कर्म को परिपक्व होने में समय लगता है । रूई को कपड़े के रूप तक पहुँचने के लिये कई कड़ी मंजिलें पार करनी होतीं हैं और कठोर व्यवधानों में होकर गुजरना पड़ता है, जो संक्रांति काल के मध्यवर्ती कार्य क्रम को धैर्य पूर्वक पूरा होने देने की जो प्रतीक्षा नहीं कर सकता, उसे रूई को कपड़े के रूप में देखने की आशा न करनी चाहिए । किया हुआ परिश्रम एक विशिष्ठ प्रक्रिया के द्वारा फल बनता है । इसमें देर लगती है और कठिनाई भी आती है । कभी–कभी परिस्थिति वश यह देरी और कठिनाई आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है । उसे पार करने के लिए समय और श्रम लगाना पड़ता है । कभी–कभी तो कई बार का प्रयत्न भी सफलता तक नहीं ले पहुँचता, तब अनेक बार अधिक समय तक अविचल धैर्य के साथ जुटे रहकर अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करना होता है । आतुर मनुष्य इतनी दृढ़ता नहीं रखते, जरा सी कठिनाई या देरी से वे घबरा जाते हैं और मैदान छोड़ कर भाग निकलते हैं । यही भगोड़ापन उनकी पराजयों का इतिहास

बनता जाता है ।

चित्त का एक काम पर न जमना, संशय और संकल्प विकल्पों में पड़े रहना एक प्रकार का मानसिक रोग है । यदि काम पूरा न हो पाया तो ? यदि कोई आकस्मिक आपत्ति आगयी तो ? यदि फल उल्टा निकला तो ? इस प्रकार की दुविधा पूर्ण आशंकाएें मनको डांवाडोल बनाये रहतीं हैं । पूरा आकर्षण और विश्वास न रहने के कारण मन उचटा-उचटा सा रहता है । जो काम हाथ में लिया हुआ है, उस पर निष्ठा नहीं होती । इसलिए आधे मन से वह किया जाता है । आधा मन दूसरे काम की खोज में लगा रहता है । इस डांवाडोल स्थिति में एक भी काम पूरा नहीं हो पाता । हाथ के काम में सफलता नहीं मिलती । बल्कि उल्टी भूल होती जाती है, ठोकर पर ठोकर लगती जाती है । दूसरी ओर आधे मन से जो नया काम तलाश किया जाता है, उसके हानि लाभों को भी पूरी तरह नहीं विचारा जा सकता । अधूरी कल्पना के आधार पर नया काम वास्तविक रूप में नहीं वरन् अलंकारिक रूप में दिखाई पड़ता है । पहले काम को छोड़ कर नया पकड़ लेने पर फिर उस नए काम की भी वही गति होती है जो पुराने की थी । कुछ समय बाद उसे भी छोड़कर नया ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार 'काम शुरू करना और उसे अधूरा छोड़ना' इस कार्य क्रम की बराबर पुनरावृत्ति होती रहती है और अन्त में मनुष्य को अपने असफल जीवन पर पश्चाताप करने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता ।

मानसिक असंतुलन से आध्यात्मिक पतन

मानसिक असंतुलन से केवल सांसारिक और भौतिक क्षेत्र में ही हानि नहीं उठानी पड़ती, वरन् आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसका परिणाम अनिष्टकारी होता है । जो लोग मानसिक उत्तेजना के शीघ्र वशी भूत हो जाते हैं उनमें अभिमान और लोभ की मात्रा भी बढ़ जाती है, और ये दोंनो तत्व अन्य अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति करते हैं । अभिमान एक प्रकार का नशा है, जिसमें मदहोश होकर मनुष्य अपने को दूसरों से बड़ा और दूसरों को अपने से छोटा समझता है । वह इस बात को पसंद करता है कि दूसरे लोग उसकी खुशामद करें, उसे बड़ा समझें, उसकी बात मानें, जब इसमें कुछ कमी आती है तो वह अपना अपमान समझता है और क्रोध से सांप की तरह फुसकारने लगता है । वह नहीं चाहता कि

कोई मुझसे धन में, विद्या में, बल में, प्रतिष्ठा में बड़ा या बराबर का हो, इसलिए जिस किसी को वह थोड़ा सुखी सम्पन्न देखता है उसी से ईर्ष्या द्वेष करने लगता है । अहंकार की पूर्ति के लिए अपनी सम्पन्नता बढ़ाना चाहता है ।सम्पन्नता सद्गुणों से, श्रम से, लगातार परिश्रम करने से मिलती है । पर अभिमान के नशे में चूर व्यक्ति इस सीधे साधे मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं होता वह अनीति और बेईमानी पर उतर आता है ।

अवमान का अर्थ है– आत्मा की गिरावट । अपने को दीन, तुच्छ, अयोग्य, असमर्थ समझने वाले लोग संसार में दीन हीन बनकर रहते हैं । उनकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है । कोई साहसिक कार्य उनसे बन नहीं पड़ता । सम्पन्नता प्राप्त करने और अपने ऊपर होने वाले अन्याय को हटाने के लिए जिसे शौर्य की आवश्यकता है वह अवमान ग्रस्त मनुष्य में नहीं होता । फलस्वरूप वह न तो समृद्ध बन पाता है और न अन्याय के चंगुल से छूट पाता है । उसे गरीबी घेरे रहती है । और कोई न कोई सताने वाला आये दिन अपनी तीर कमान ताने रहता है । इन कठिनाईयों से बचने के लिए उसे निर्बलता पूरक अनीतियों का आश्रय लेना पड़ता है । चोरी, ठगी, कपट, छल, दंभ, असत्य, पाखण्ड, व्यभिचार, खुशामद जैसे दीनता सूचक अपराधों को करना पड़ता है । मोह ममता, भय, आशंका, चिन्ता, कातरता, शोक, पश्चाताप, निराशा कुढ़न, सरीखे मनो विकार उसे घेरे रहते हैं । आत्मज्ञान एवं आत्म सम्मान को प्राप्त करना और उनकी रक्षा करने के लिए मनुष्योचित मार्ग अपनाना यह जीवन का सतोगुणी स्वाभाविक क्रम है । यह श्रंखला जब विश्रंखलित हो जाती है, आत्मिक संतुलन बिगड़ जाता तो पाप करने का सिलसिला चल पड़ता है ।

मानसिक संतुलन और समत्व की भावना

मानसिक संतुलन को हम गीता में बतलाई समत्व की भावना भी कह सकते हैं । सब सांसारिक पदार्थो में प्रवृत्ति की हम में जितनी शक्ति होती है उतनी ही जब उनसे निवृत्त होने की भी शक्ति होती है तो उस अवस्था को संतुलित और समत्व भावना की अवस्था कह सकते हैं ।

इस समत्व को आचरण में उतारने के लिए केवल विरागी अथवा राग हीन होने से ही कार्य न चलेगा । संतुलित अवस्था तो तब होगी जब आप रागहीन होने के साथ–साथ द्वेष हीन भी होंगे । हमारे भारतीय

साधुओं ने भी वही भूल की । वे होने के लिए तो विरागी हो गये पर साथ-साथ अद्वेषी (अद्वेष्टा) न हुए । राग से बचने की धुन में उन्होंने द्वेष को अपना लिया । संसार के सुख दुःख से सम्बद्ध न होने की चाह में उन्होंने संसार से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और उसकी सेवाओं से अपना मुख मोड़ लिया ।

जब दो गुण ऐसे होते हैं जो मनुष्य को परस्पर विपरीत दिशाओं में प्रवृत्त करते हैं, तो उनके पारस्परिक संयोग से चित्त की जो अवस्था होती है उसे भी संतुलित अवस्था कहते हैं । दया मनुष्य को दूसरों का दुःख दूर करने में प्रवृत्त कराती है पर निर्मोह या निर्ममत्व मनुष्य को दूसरों के सुख-दुख से सम्बन्धित होने से पीछे हटाता है । अतएव दया और निर्ममत्व दोनों के एक बराबर होने से चित्त संतुलित होता है । जहाँ दया मनुष्य को अनुरक्त करती है वहाँ निर्ममता विरक्त । दया में प्रवृत्तात्मक और निर्मोता में निवृत्तात्मक शक्ति है । उसी तरह संतोष और परिश्रमशीलता एक दूसरे को संतुलित करते हैं । परिश्रमशीलता में प्रवृतात्मक और संतोष में निवृतात्मक शक्ति है । उसी तरह सत्यता और मृदुरभाषिता, सरलता और दृढ़ता, विनय और निर्भीकता, नम्रता और तेज, सेवा और अनासक्ति, शुचिता और घृणाहीनता, स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व, तितीक्षा और आत्म रक्षा, निष्कामता और आलस्य हीनता, अपरिग्रह और द्रव्योपार्जन शक्ति परस्पर एक दूसरे को संतुलित करते हैं । इन युग्मों में से यदि केवल एक का ही विकास हो और दूसरे के विकास की ओर ध्यान न दिया जाय तो मनुष्य का व्यक्तित्व असंतुलित एवं एकांगी हो जावेगा । श्रद्धालु व्यक्ति में श्रद्धेय व्यक्ति के अनुगमन करने तथा उसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति होती है, स्वतन्त्रता प्राप्त व्यक्ति पर अंकुश न होने से उसमें निरंकुशता और उच्छृ खलता बढ़ सकती है, दृढ़ प्रकृति व्यक्ति में हठ करने की प्रवृत्ति हो सकती है, प्रभुत्व शाली व्यक्ति में अभिमान बढ़ सकता है इत्यादि । अतएव जब तक इन व्यक्तियों में क्रमशः आत्म निर्भरता, उत्तरदायित्व, हठ-हीनता और निरभिमानता का विकास न होगा तब तक पूर्वोक्त गुण अपनी अपनी सीमा के भीतर न रहेंगे । अतएव उपरोक्त युग्मों में से प्रत्येक गुण एक दूसरे को मर्यादित करता है और एक दूसरे का

पूरक है ।

जब मनुष्य में दण्ड देने की सामर्थ्य रहते हुए भी, अपमान सहन करने की क्षमता होती है, जब वह अहिंसा व्रत पालते हुए भी अपराधियों को अधिकाधिक उच्छृंखल, उद्धत, अभिमानी और निष्ठुर नहीं बनने देता, जब वह सेवा व्रती होते हुए भी सेव्यजनों को आलसी परमुखापेक्षी और अकर्मण्य नहीं होने देता, जब वह क्रोध में होते हुए भी अनुशासन और नियन्त्रण बनाये रखना जानता है, जब उसमें भक्ति और उत्साह होते हुए भी दास वृत्ति और उतावलापन नहीं होता, जब वह सफलता में विश्वास रखते हुए भी कार्य करने में लापरवाही नहीं करता, जब वह त्यागी होते हुए भी विपक्षी का लोभ नहीं बढ़ाता, जब वह मान सम्मान की परवाह न करते हुए भी लोक कल्याण करने वाले शुभ कार्यों के करने में पूर्ण उत्साही होता है, जब वह अपमान से दुखी न होते हुए भी अपमान जनक कार्य न करने का संयमी एवं आत्मनिग्राही होता है, जब वह शुभ कर्मों को करने के लिए बाध्य न होते हुए भी स्वेच्छा से उन्हें तत्परता पूर्वक अच्छी तरह करता है, जब वह किसी कार्य के प्रवृत्त होने के साथ-साथ उससे निवृत्त भी हो सकता है तब उसके चरित्र और गुणावलियों में संतुलन आता है ।

जब दो विचार धाराऐं मनुष्य से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य कराती हैं तब उनके समन्वय से जो स्थिति होती है उसे संतुलित विचार धारा कहते हैं । आत्म सुख की भावना बहुधा मनुष्य को स्वार्थमय कर्मों में प्रवृत्त कराती है और लोक सुख की भावना लोक कल्याण के कार्यों में । अतएव आत्म सुख और लोक सुख दो विभिन्न दृष्टिकोंण हुए । इनके समन्वय से जो स्थिति होती है वही संतुलित विचार पद्धति है । उसी प्रकार जिसकी विचारधारा में पूर्व और पश्चिम के आदर्शों का समन्वय, भौतिक वाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, आदर्श और यथार्थ का समन्वय हुआ है और जो मध्यम मार्ग को अपनाये हुए हैं उसी की विचार धारा संतुलित है ।

जब हम किसी एक ही कार्य के पीछे पड़ जाते हैं अथवा हम जब किसी कार्य में अति करने के कारण दूसरे करणीय कार्यों को भूल जाते हैं तब हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होती है । यदि हम एक दम धन

कमाने के पीछे पड़जायें अथवा यदि हम केवल पढ़ने में ही सारा समय बिताने लगें तो हमारी कार्य पद्धति असंतुलित होगी, यदि कोई विद्यार्थी अपने हस्तलेखन की केवल गति ही बढ़ाने पर ध्यान दे और अक्षरों की सुन्दरता पर ध्यान न दे तो आप उसके प्रयत्न को क्या कहेंगे ? उसी प्रकार यदि किसी देश में ऐसा कोई आयोजन हो कि केवल शिक्षा की क्वालिटी या उसकी उत्कृष्टता ही एक मात्र लक्ष्य हो और इस बात का ध्यान न हो कि शिक्षा अधिक से अधिक संख्या के लोगों को उपलब्ध हो सके तो उस देश के शिक्षा शास्त्रियों की कार्य पद्धति असंतुलित ही कही जायेगी । यही बात मानव जीवन पर भी घटित होती है । हमें केवल एक ही दिशा में घुड़दौड़ नहीं मचानी चाहिए वरन् सब दिशाओं में विकास करते हुए मानसिक संतुलन को बनाये रखना चाहिए । तभी हम अगाध मानसिक शान्ति के दर्शन कर सकेंगे ।

'अति सर्वत्र वर्जयेत'

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों तथा नीति कारों ने जगह-जगह इस बात पर जोर दिया है कि किसी भी काम में 'अति' नहीं करनी चाहिए । यह नियम बुरी बातों पर ही नहीं अनेक अच्छी बातों पर भी लागू होता है । जैसे कहा गया है कि अति दान वृत्ति के कारण बलि को पाताल में बँधना पड़ा । सम्भव है कि कुछ विशिष्ट आत्माओं के लिए , जो किसी असाधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण होती हैं, यह नियम आवश्यक न माना जाय, पर सर्व साधारण के लिए सदैव मध्यम मार्ग-संतुलित जीवन का नियम ही उचित सिद्ध होता है ।

भगवान बुद्ध ने 'मज्झम मग्ग' का - मध्यम मार्ग का - आचरण करने के लिए सर्व साधारण को उपदेश किया है । बहुत तेज दौड़ने वाले जल्दी थक जाते हैं और बहुत धीरे-धीरे चलने वाले अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचने में पिछड़ जाते हैं । जो मध्यम गति से चलता है वह बिना थके, बिना पिछड़े उचित समय पर अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाता है ।

हाथी जब किसी नदी को पार करता है तो अपना हर एक कदम बड़ी सावधानी से रखता है । आगे की जमीन को टटोल कर उस पर एक पैर जमाता है । जब देख लेता है कि कोई खतरा नहीं तो उस पर बोझ रख कर पिछले पैरों को हटाता है । इस गति विधि से वह उस भारी काम को पूरा कर लेता है । यदि वह जल्दवाजी करे तो वह गहरे